गाँधी : एक असम्भव सम्भावना
सुधीर चंद्र
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
पृष्ठ : 218; मूल्य : 645 रुपये, 2010

गाँधी के 'मैं' में अहिंसा के 'हम' की तलाश

अम्बिका दत्त शर्मा

अलबर्ट आइंस्टीन ने गाँधी के बारे में कहा था कि आने वाली पीढ़ी के लिए इस हक़ीक़त पर यक़ीन करना मुश्किल होगा कि मोहनदास करमचंद गाँधी नाम का कोई व्यक्ति उसी तरह से हाड़-मांस का पुतला रहा होगा जैसे कि हम और आप हैं। इसी प्रकार विश्व प्रसिद्ध धर्म-विज्ञानी आर.सी. जेनर ने अपनी रचनाओं में गाँधी को 'और युधिष्ठिर लौट आया' कहते हुए संदर्भित किया है। सुधीर चंद्र ने भी अपनी इस नवीन कृति के शीर्षक में गाँधी को एक 'असम्भव सम्भावना' कहते हुए कुछ इसी प्रकार का ऊह वाग्विग्रहित करने का सार्थक प्रयास किया है। यद्यपि शीर्षक की व्यंजना में बलाघात 'असम्भव' पद पर है, लेकिन पुस्तक जैसे-जैसे आगे बढ़ती है वैसे-वैसे बलाघात 'सम्भावना' पद पर केंद्रित होने लगता है। गाँधी के विषय में दिये गये इस और ऐसे ही अनेक उदानपरक* वक्तव्यों से प्रतीत होता है कि उनका व्यक्तित्व आधुनिक मनोविज्ञान में स्वीकृत आत्म-रक्षा और आत्म-प्रेम जैसी व्यावर्त्तक प्रवृत्तियों से परिभाषित होने वाले 'व्यक्ति' की सीमा से परे तो नहीं चला गया है। यदि यह सम्भव है तो भारत के स्वाधीनता आंदोलन की परिसीमा में गाँधी को मूल्यांकित करने से होने वाले लाभ-हानि के प्रचलित मानदण्डों को बदलना होगा। सुधीर चंद्र ने इस पुस्तक में गाँधी के इतिवृत्त को एक उपाख्यान बना कर जिस तरह से प्रस्तुत किया है उससे गाँधी को मूल्यांकित करने वाले प्रचलित मानदण्डों की अपर्याप्तता ही संकेतित होती है। जब नेहरू जैसे

* बौद्ध दर्शन में उदानपरक का अर्थ है हार्दिक आह्लाद से उद्भूत.

व्यक्ति भी गाँधी के विषय में ऐसा वक्तव्य दे सकते हैं कि 'वे (गाँधी) सैद्धांतिक और वैचारिक दृष्टि से कभी-कभी अचम्भे की हद तक पिछड़े हुए थे', तो इससे गाँधी को समझे जाने वाले तौर-तरीक़ों पर बलात् संदेह होना स्वाभाविक ही है। वास्तव में गाँधी एक 'विचार-पुरुष' थे और ऐसे विचार-पुरुष जिसमें भारत का 'सनातन सत्य' अपनी सोलहों कलाओं के साथ अवतरित हो कर मानो युगानुरूप नवीकृत हुआ था। इसे भारत भूमि का पुण्य संभार ही कहिये कि यहाँ समय-समय पर ऐसे 'सत्याग्रही' महापुरुष जन्म लेते रहते हैं— धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।

सुधीर चंद्र औपनिवेशिक और उपनिवेशोत्तर भारत के इतिहास की सामाजिक चेतना को एक बाह्य-द्रष्टा की तरह नहीं देखते, बल्कि वे उसके अंतरंग हो कर अपनी इतिहास-साधना का रंग-रोगन करने वाले इतिहासकार हैं। इस पुस्तक में भी उन्होंने गाँधी के 'सत्य के प्रयोग' में निजता और सार्वजनिकता के द्वंद्व को अंतरंग हो कर उभारा है। इसीलिए यह पुस्तक पाठक को गाँधी के सत्य के साथ इस क़दर अंतरंग बना देती है कि वह गाँधी के साथ-साथ, या उसके बहाने, अपने को देखने में भी मुब्तिला हो जाता है। पाठक को लगता है कि जैसे वह अपने वेदन-तंत्र के मुताबिक हृदय-रूपांतरण की एक अजीबोग़रीब मनोवैज्ञानिक स्थिति में आता जा रहा है। वह मूलगामी रूप से आत्मचेतन मनुष्य होने के नाते गाँधी की सफलता-विफलता को निज की सफलता-विफलता के रूप में गुनने लगता है। सुधीर चंद्र की पुस्तक की यही वह विशिष्टता है जिसके चलते गाँधी पर लिखी गयी अनगिनत पुस्तकों में 'इस' एक और पुस्तक के लिए थोड़ा ही सही लेकिन बख़ूबी स्थान बनता है। अन्यथा, गाँधी को देवतुल्य सिद्ध करने वाली, उनके संतुलित मूल्यांकन का प्रयास करने वाली और यहाँ तक कि गाँधी को लांछित करने वाली किताबों की भरमार तो पहले से ही है।

कहा जाता है कि सत्य तो एक होता है लेकिन सबके अपने-अपने झूठ होते हैं। ऐसे ही गाँधी का सत्य तो भारत की ऋषि परम्परा का सनातन सत्य है जिसे महाभारत जैसी बेहद पेचीदा स्थिति में भी विषादग्रस्त अर्जुन के समक्ष कृष्ण ने *गीता* की शुरुआत करते हुए इस तरह उद्घाटित किया था कि 'हे अर्जुन! तुम कर्तव्य-निर्णय के लिए जिस प्रतिज्ञा को आधार बना रहे हो, अर्थात् कौन मरेंगे और कितने मरेंगे, वह कर्तव्य-निर्णय के लिए आधार बनने योग्य ही नहीं है। प्रज्ञावान व्यक्ति के लिए जीवन-मृत्यु के विचार का वास्तव में कोई महत्त्व ही नहीं होता (अशोच्यानन्व शोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासुनगताशूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:)।' कुरुक्षेत्र की आर्थिक-राजनीतिक परिस्थिति में समाधान की यह सूझ किसी को भी कितनी अतिक्रामी प्रतीत हो सकती है? इस किताब में भी भारत के उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की सियासती कशमकश के बीच बहुतों के गाँधी विषयक अपने-अपने झूठों (दृष्टिकोणों) में उलझे हुए गाँधी के सत्य को भाँपने की कोशिश की गयी है। परंतु सत्य को भाँपना और भाँपे गये सत्य को नि:शंक और बेबाक रूप में खड़ा करना दोनों अलग-अलग बातें हैं। इसमें दूसरा ही लेखकीय धर्म के पुरुषार्थ से संबंधित होता है। इस कृति में सुधीर चंद्र का पुरुषार्थ यह है कि वे एक द्विधा, एक असमंजस की स्थिति में सब-कुछ पाठक पर छोड़ देते हैं कि हो सके तो वे अपने-अपने गाँधी विषयक झूठ, या फिर वैसे झूठ जो बिना विचारे ही गतानुगतिक रूप से अपना लिए गये हैं, का परिष्कार कर लें। लेखक ने बड़ी ईमानदारी से स्वीकार किया है कि नये बौद्धिक प्रभावों के कारण अपने आरम्भिक दिनों में उनका मन गाँधी के प्रति वितृष्णा से भरा हुआ था लेकिन किसी अवांतर प्रसंग में गाँधी के प्रार्थना-प्रवचनों का संग्रह पढ़ते हुए उन्होंने भी अपने झूठ का परिष्कार किया। इस तरह पीछे मुड़ कर गाँधी को देखते हुए उन्हें गाँधी की महानता का आभास तो हुआ, लेकिन वे स्वयं कहते हैं कि गाँधी का सत्य अभिव्यक्ति की सरलता के आवरण में छिपा हुआ है। इस कारण वह अपनी सम्पूर्ण गरिमा और गहराई के साथ हमारे वेदन-तंत्र को सीधे-सीधे अर्थबोध नहीं करा पाता है। स्वयं गाँधी को अपने विचारों की दुर्व्याख्या की चिंता रहती थी। उन्होंने स्वयं कहा है : 'मेरी भाषा सूत्रात्मक है, उसमें स्पष्टता नहीं है, इसलिए उसकी अनेक व्याख्याएँ

सम्भव हैं।' वास्तव में यह बात गाँधी के ऊपर सौ प्रतिशत सही उतरती है। इसके लिए ज़रूरी है कि गाँधी का पुनरावलोकन करते हुए गाँधी की सरलता को सशक्त बौद्धिक-विमर्श के धरातल पर खड़ा कर उसके अंतरार्थ को खोला जाए। परंतु सर्वसमर्थ होते हुए भी ऐसा न करके लेखक ने स्वयं की सरलता में गाँधी की अपनी सरलता पर एक और आवरण चढ़ा दिया है। इस कारण यह पुस्तक गाँधी के कुछ चुने हुए प्रार्थना प्रवचनों के आधार पर गाँधी के सत्य की सिलसिलेवार झाँकी प्रस्तुत करने वाली 'रीडिंग' भर बन कर रह गयी है। यद्यपि यह 'रीडिंग' भी बेशक महत्त्वपूर्ण है। इसके आधार पर स्वयं सुधीर चंद्र या कोई उनका समानधर्मा गाँधी के सत्य की नि:शंक प्रस्तुति करने वाला एक दूसरा प्रौढ़ ग्रंथ रच सकता है।

आइये, अभी इस दूसरे ग्रंथ की सम्भावना को दरकिनार करते हुए देखें कि इस पुस्तक की वर्तमान बुनावट क्या और कैसी है। इस पुस्तक के पहले अध्याय का शीर्षक है 'गाँधी : अपना सामना'। इस शीर्षक की व्यंजना लेखक का हृदय प्रकट करती है लेकिन पूरी पुस्तक पढ़ लेने के बाद, बतौर प्रस्ताविकी, यह अध्याय हल्का लगने लगता है। यह सम्भव है कि लेखक को आसानी से सस्ते में ही गाँधी की महानता और उनके सत्य का एहसास हो गया हो लेकिन इस अध्याय में जिन सामग्रियों और संदर्भों द्वारा लेखक ने गाँधी का सामना किया है उसमें पाठक के लिए कुछ भी वैसा नहीं है कि जिससे पाठक की चेतना यकायक उन्मीलित हो सके। सुधीर चंद्र स्वयं स्वीकार करते हैं कि पुस्तक की प्रेरक-भावना गाँधी के प्रति श्रद्धा रही है जो बचपन से ही उनके संस्कारों में रची-बसी थी। इस बात को उनकी एक आपबीती भी प्रमाणित करती है कि जब उन्होंने सुना कि गाँधी नहीं रहे तो वे बिलख-बिलख कर रोने लगे। यद्यपि एक समय उनके जीवन में ऐसा भी आया (कॉलेज और युनिवर्सिटी के दिनों में) कि उनका मन गाँधी के प्रति वितृष्णा से भर गया। काश सुधीर चंद्र अपनी इस मध्यवर्ती वितृष्णा का कोई चित्र खींचते तो पाठक के लिए वह श्रद्धा से वितृष्णा और वितृष्णा से पुन: सत्य के साक्षात्कार की ओर लौटने का एक अच्छा सोपान बनता। इसे एक संयोग ही कहिए कि उन्नीसवीं सदी में ईसाई हो जाने वाले सवर्ण हिंदुओं पर काम करने के सिलसिले में गाँधी के प्रार्थना-प्रवचनों का संग्रह पढ़ते हुए उन्हें गाँधी की आत्म-प्रतिमा का प्रबोध हुआ। द्रष्टव्य है कि ये प्रवचन 1 अप्रैल, 1947 से 29 जनवरी, 1948 के बीच हर रोज़ शाम प्रार्थना सभा में दिये गये थे। समूची पुस्तक की ज़मीन इसी दौरान के प्रार्थना-प्रवचनों के आधार पर तैयार की गयी है। यही कारण है कि यह पुस्तक गाँधी के 'अन्त' को समझने की कोशिश करने वाली पुस्तक है। यद्यपि 'अन्त' कोई अपने आप में अलग-थलग वस्तु नहीं होती, वह 'आदि' और 'अद्यतन' को अपने में अंतर्भुक्त किये रहती है। इस तरह बहुत-सी हल्की-फुल्की बातों के बावजूद लेखक ने गाँधी के 'अंत' को समझते हुए एक 'अचरज' का सामना किया है और वह न केवल जायज़ है बल्कि उसमें एक 'सार्वजनीन अचरज' होने का भी सामर्थ्य है। वही गाँधी जिनकी जिजीविषा इतनी प्रबल रही कि वे कहा करते थे कि 'उमर से बूढ़ा होने पर भी मुझे नहीं लगता कि मेरा आंतरिक विकास रुक गया हो या काया विसर्जन के बाद रुक

> यह पुस्तक पाठक को गाँधी के सत्य के साथ इस क़दर अंतरंग बना देती है कि वह गाँधी के साथ-साथ, या उसके बहाने, अपने को देखने में भी मुब्तिला हो जाता है। पाठक को लगता है कि जैसे वह अपने वेदन-तंत्र के मुताबिक़ हृदय-रूपांतरण की एक अजीबोग़रीब मनोवैज्ञानिक स्थिति में आता जा रहा है। वह मूलगामी रूप से आत्मचेतन मनुष्य होने के नाते गाँधी की सफलता-विफलता को निज की सफलता-विफलता के रूप में गुनने लगता है।

जाएगा'। परंतु ऐसा क्या हुआ कि वे अंत के दिनों में अपने पार्थिव अंत की कामना करने लगे। निश्चय ही यह 'अचरज' हमें गाँधी के सत्य को सम्भव और व्यावहारिक के संकुचित वर्तमान की गिरफ़्त से मुक्त हो कर सोचने और समझने के लिए आत्मचेतन रूप से उकसाता है। एक तरह से देखा जाए तो समूचे ग्रंथ में इसी 'अचरज' की तफ़सील की गयी है।

पुस्तक का दूसरा अध्याय है 'गाँधी का स्वराज'। परंतु यहाँ गाँधी के स्वराज की कोई हल्की-सी तस्वीर भी नहीं खींची गयी है बल्कि 'स्वराज' इस अध्याय का पूर्वधारणा भर है। अध्याय की शुरुआत गाँधी का एक अरण्यरोदन संदर्भित करते हुए की गयी है कि आज तो कांग्रेस और न ही हिंदू और मुसलमान ही गाँधी की सुनते हैं। इस आधार पर लेखक ने यह दिखाया है कि यूँ तो 1947 से पहले लगभग तीस साल के दौरान गाँधी जितना कांग्रेस के अंदर रहे उतना ही बाहर भी रहे, लेकिन तब गाँधी कांग्रेस से निकलते थे, निकाले नहीं जाते थे, परंतु अब की परिस्थिति में गाँधी निकाले जा रहे थे। लेखक ने गाँधी को निकाले जाने का मर्म बड़ी सहूलियत से पकड़ा है और वह मर्म है गाँधी के एकमात्र वारिस जवाहर लाल नेहरू का अपने श्रद्धा-पुरुष से मोहभंग। जाहिर है कि इस मोहभंग के बीच का मुद्दा स्वराजविषयक दोनों की अलग-अलग या फिर परस्पर विरोधी संकल्पनाओं का होना है। इसका संकेत हमें नेहरू की आत्मकथा के 1942 के संस्करण की पृष्ठ 72 पर दर्ज उस पंक्ति में मिलता है जहाँ वे कहते हैं कि 'हम आपस में उनकी ख़ब्तों और विचित्रताओं की अक्सर चर्चा करते थे, और थोड़ा हँसते हुए कहते थे कि स्वराज के बाद इन ख़ब्तों को बढ़ावा नहीं मिलना चाहिए।' ऐसा भी नहीं कि गाँधी को अपने स्वराज की संकल्पना में निहित ख़ब्तों का पता नहीं था। इसलिए स्वराज प्राप्ति के अपने द्विस्तरीय लक्ष्यों या कहें कार्य-योजनाओं का खुलासा करते हुए उन्होंने 1921 के *यंग इण्डिया* में *हिंद-स्वराज* के पाठकों को आगाह करते हुए लिखा था : 'मैं पाठकों को एक चेतावनी देना चाहता हूँ। वे ऐसा न समझें कि हिंद-स्वराज में जिस स्वराज की तस्वीर मैंने खड़ी की है, वैसा स्वराज कायम करने के लिए आज मेरी कोशिश भी चल रही है। मैं जानता हूँ कि अभी हिंदुस्तान उसके लिए तैयार नहीं है। ऐसा कहने में शायद ढिलाई का भास हो, लेकिन मुझे पक्का विश्वास है कि हिंद-स्वराज में जिस स्वराज की रूपरेखा मैंने बनाई है, वैसा स्वराज पाने की मेरी निजी कोशिश ज़रूर चल रही है। परंतु इसमें कोई दो राय नहीं कि आज मेरी सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय तो हिंदुस्तान की प्रजा की इच्छा के मुताबिक 'पार्लियामेंटरी' ढंग का स्वराज पाना है।' गाँधी के इस स्पष्टीकरण में यह आशय साफ़ झलकता है कि उनकी दृष्टि में भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का प्राथमिक लक्ष्य हिंदुस्तान में पार्लियामेंटरी ढंग का राजनीतिक स्वराज पा कर उसे वास्तविक अर्थों में स्वराज की ओर बढ़ने का सोपान बनाना था। वही स्वराज जिसकी एक हल्की-सी झलक गाँधी के इस कथन में दिखती है कि 'मैं तो कहूँगा कि सात लाख गाँव हैं तो सात लाख हुकूमतें बनीं, ऐसा मानो...।' भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता गाँधी के लिए साधन थी, साध्य नहीं। व्यापक अर्थों में साध्य था वास्तविक स्वराज, यानी सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा इत्यादि सनातन मूल्यों पर आधारित एक पूर्ण सभ्यताबोध को धरती पर उतारना और उसके अवतरण के लिए प्रथम और उपर्युक्त प्रयोग-भूमि भारत को बनाना।

अब जब 1947 में भारत को पार्लियामेंटरी ढंग का स्वराज प्राप्त हो गया तो जवाहर लाल नेहरू के लिए तो यही साध्य था, जबकि गाँधी इस उपलब्धि को महज एक साधन मानते थे। ऐसी स्थिति में गाँधी अब नेहरू के साध्य का साधन के रूप में उपयोग न करने लगें, इसके लिए गाँधी के स्वराज की संकल्पना में यूटोपिया का प्रश्न उठाना, उनके प्रयासों और प्रतिबद्धता में ख़ब्त देखना, उन ख़ब्तों को तनिक भी बढ़ावा न देना यानी कुल मिलाकर गाँधी को मन ही मन सिरे से ख़ारिज कर देना नेहरू के लिए स्वाभाविक ही था। वस्तुत: गाँधी और नेहरू के विवाद आज़ादी मिलने के निकट पूर्व ही सामने आ गये थे। सुधीर चंद्र ने बड़े ही सटीक तरीक़े से स्वराज विषयक आबा-ओ-अजदाद (गाँधी)

और वारिस (नेहरू) के बुनियादी मतभेद उजागर करने के लिए इस अध्याय में गाँधी के एक लम्बे पत्र और नेहरू के अनमने जवाब का बड़ा ही चुनिंदा हवाला दिया है। यों तो गाँधी और नेहरू के बीच पत्राचार तो बहुत हुए हैं, लेकिन जिस पत्र को यहाँ नमूने के तौर पर प्रस्तुत किया गया है, वह बेजोड़ है। इतना ही नहीं, लेखक ने गाँधी के इस आलेखनुमा पत्र में *हिंद स्वराज* के नये संस्करण की सम्भावना देखते हुए उसकी विवेचना करने की कोशिश भी की है। सचमुच *हिंद स्वराज* के नये संस्करण की झलक इस पत्र में देखना एक मौलिक सूझ है क्योंकि 1909 में लिखे गये *हिंद स्वराज* में पश्चिम की आधुनिक तकनीकी सभ्यता की आलोचना ज़्यादा और बदले में हिंदुस्तानी स्वराज की रूपरेखा कम है। इस सूझ के माध्यम से लेखक को अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था कि वे गाँधी द्वारा आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को उसकी ज्ञानमीमांसा में ही ख़ारिज किये जाने के बाद हिंदुस्तान के ग्राम-स्वराज की रूपरेखा, एक वैकल्पिक सभ्यता-बोध उपस्थापित करें और साथ ही साथ नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया' को भारत के महिमा गान की पुस्तक न मान कर 'रिप्लेसमेंट ऑफ़ सिविलाइज़ेशन' की पुस्तक करार दें। परंतु सुधीर चंद्र, इरादा रखते हुए भी, इस अवसर का लाभ नहीं उठा पाये और इस पूरे मजमून को एक छोटे से निष्कर्ष, एक दर्द भरे एहसास में समेट कर रह गये कि गाँधी को यह बोध हो गया था कि उनके वारिस ने उनको पूरे तौर से नकार दिया है। वस्तुतः यह नकार गाँधी के *हिंद स्वराज* का नकार था।

गाँधी ... की दृष्टि में स्वाधीनता आंदोलन का प्राथमिक लक्ष्य हिंदुस्तान में पार्लियामेंटरी ढंग का राजनीतिक स्वराज पाकर उसे वास्तविक अर्थों में स्वराज की ओर बढ़ने का सोपान बनाना था। वही स्वराज जिसकी एक हल्की-सी झलक गाँधी के इस कथन में दिखती है कि 'मैं तो कहूँगा कि सात लाख गाँव हैं तो सात लाख हुकूमतें बनी, ऐसा मानो...।'

अब शुरू होता है गाँधी के दुःख-दर्द और व्यथा की कहानी। इसीलिए इस पुस्तक के तीसरे अध्याय का शीर्षक दिया गया है 'गाँधी का दुःख'। इसमें बहुतेरे संदर्भों और गाँधी के अनेक वक्तव्यों की टीका करते हुए लेखक ने बड़े विस्तार से गाँधी की वेदना जगजाहिर की है। साथ ही साथ दुःखानुभव की नितांत मनोवैज्ञानिक वैयक्तिकता ध्यान में रखते हुए उसे इस देश की दुःख-गाथा भी समझा है। यहाँ न तो यह सम्भव है और न ही उचित कि हम लेखक की व्यथा-कथा फिर से दुहरायें। परंतु लेखक की ज़ुबानी ही उसका सार यह है कि 'एक बार कलकत्ता में बातों ही बातों में गाँधी ने कहा था कि जीवन में जो दारुण दुःख उन्हें भोगने पड़े थे वे काफ़ी थे हुगली नदी में डूब कर आत्महत्या करने के लिए। पर ईश्वर में उनके विश्वास ने उन्हें बचाये रखा था। महादेव देसाई का जाना, कस्तूरबा का जाना, परिजनों का दूर होते जाना, गाँधी के बड़े दुःखों में शामिल थे। पर इन दुःखों को वे अपने अंदर दबाये रखते थे। जिन दुःखों ने उन्हें त्रस्त कर रखा था वे सार्वजनीन दुःख थे। नोआखाली के हिंदुओं में उनका कोई सगा या जानने वाला नहीं मरा था कि बाक़ी सब कुछ छोड़कर पहुँच लिए शांति कायम करने वहाँ। न ही बिहार के मुसलमानों में मारा गया था उनका कोई अपना कि नोआखाली छोड़ चल दिये बिहार।' पुनः 1946 के अंत में गाँधी की हताशा और पस्ती की पराकाष्ठा देखी जा सकती है। उन्होंने निर्मल कुमार बोस को चुपके से बताया था और अपनी डायरी में भी लिखा था कि उनका शरीर गिर जाता है, और यह भी कहा था कि मेरा दिमाग़ हार जाता है।

वस्तुतः इस अध्याय में गाँधी की व्यथा-कथा का लेखक ने जैसा मार्मिक चित्रण किया है वह उन दिनों का करुण-क्रंदन है जब इस देश को निकट भविष्य में किसी भी दिन आज़ादी मिलना एक तरह से तय हो गया था। यह भी एक अचरज से कम नहीं कि जब अपने किये का कुछ फल मिलने

वाला हो तो वह काल मुदिता का हुआ करता है, लेकिन कैसी विडम्बना है कि गाँधी के लिए वही समय सबसे कातर और त्रासद काल में रूपांतरित हो गया। सुधीर चंद्र ने इस अचरज और विडम्बना की तफ़सील करते हुए बताया है कि गाँधी के दु:ख का एक कारण तो यह एहसास था कि जिस अंग्रेज़ी राज में कभी सूरज नहीं डूबता था और फिर कभी ख़ून नहीं सूखता था, वह भी गाँधी के साथ वैसा बरताव नहीं कर पाया जैसा कि उनके ही वारिस, उनके अपने कहे जाने वाले और कांग्रेसियों ने उनके साथ आज़ादी मिलने से पहले ही करना शुरू कर दिया था। अवधेय है कि गाँधी यह सब कुछ और इससे भी अधिक अपना देशनिकाला तक भी सह सकते थे बशर्ते फलश्रुति ठीक हो। लेकिन स्वाधीनता आंदोलन की फलश्रुति से पहले ही कुछ ऐसी अनपेक्षित और विषम परिस्थितियाँ पैदा हुईं कि गाँधी को यह लगने लगा कि जिस हिंदुस्तान के स्वराज की लड़ाई वे तीस-पैंतीस वर्षों से सत्य और अहिंसा के अस्त्रों से लड़ रहे थे, उसका कोई नतीजा नहीं निकला। अत: गाँधी की दारुण-वेदना का दूसरा और सबसे बड़ा कारण इस बदली हुई हिंस्र परिस्थिति में अपने सत्य और अहिंसा के प्रयोग के हश्र को उसकी असफलता में देखना है। 16 जून 1947, 14 जुलाई 1947 और इस दौरान गाँधी द्वारा दिये गये अन्य वक्तव्यों से लेखक ने यह दिखाया है कि स्वयं गाँधी ऐसा सोचने लगे थे कि अब तक जो चलती थी वह अहिंसा नहीं थी, बल्कि मंद-विरोध था। यह अहिंसा दुर्बलों की अहिंसा थी।

कुल मिलाकर इस अध्याय में सुधीर चंद्र ने गाँधी की व्यथा-कथा की विवरणिका प्रस्तुत कर हिंदुस्तान के स्वाधीनता आंदोलन के मनोविज्ञान को फ्रॉयड द्वारा प्रवर्तित 'दमित के प्रतिशोध' के सिद्धांत के आधार पर ही समझा है। साथ ही साथ विभाजन की जद्दोजहद और नोआखाली में मुसलमानों की पहल से भड़की हिंसा तथा उसकी प्रतिक्रिया में कलकत्ता, बिहार, दिल्ली और पंजाब में हो रही मार-काट के बीच शांति बहाल करने का प्रयास कर रहे गाँधी के मनोविज्ञान की तफ़सील करते हुए उन्होंने यह दिखाया है कि गाँधी भी ऐसा मान रहे थे कि सत्य और अहिंसा को सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय बनाने का उनका प्रयोग असफल हो गया है। उन्हें तो इस बात का भी बोध हो गया था कि जिस अहिंसा को वे अपना धर्म समझ रहे थे वह कांग्रेस के लिए एक 'नीति' भर थी। नीति उसी वक़्त तक धर्म रह सकती है जब तक कि उसे चलाया जाए। कांग्रेस को पूरा अधिकार है कि जिस वक़्त ज़रूरत न रहे उसी वक़्त नीति को बदल दे। धर्म की बात और होती है। वह कभी बदल नहीं सकता। यहाँ धर्म और नीति के भेद का तनिक खुलासा करना गाँधी की अहिंसा को समझने के लिए उचित होगा। धर्म में हर कर्म अपने आप में उचित होता है, अपने आप में करणीय, अहेतुक और निष्प्रयोजन ही करणीय। यदि ऐसा नहीं तो वह धर्म नहीं होगा। धर्म भाव से अहिंसा की साधना में वह स्वयं ही उपेय होता है, उपाय नहीं। उसका उद्देश्य उसके परे नहीं, उसी में निष्ठ होता है। परंतु नीति उपाय है, किसी उपेय की प्राप्ति का साधन। नीति शब्द का प्रयोग विशेषकर राजनीति में होता है लेकिन गाँधी की विशेषता यह है कि वे नीति को भी उपेय अहिंसा का उपाय बनाना चाहते थे। कांग्रेस पर इस संदर्भ में टिप्पणी करते हुए गाँधी यही कहना चाहते हैं। गाँधी के दु:ख की आंतरिक वेदना भी यही थी कि वे नीति को उपेय अहिंसा का उपाय बना कर अपनी अहिंसा को समष्टि धर्म नहीं बना पा रहे थे।

पुस्तक के चौथे अध्याय का शीर्षक है 'अहिंसा की सम्भावना'। यदि इस सुविचारित शीर्षक को किताब के मुख्य शीर्षक की अन्विति में देखें तो इसे इस किताब का हृदय कहना अनुचित नहीं होगा। यही वह अध्याय है जिसकी पादपूर्त्ति में अगल-बगल के अध्याय लिखे गये हैं और लेखक अपना अप्रकट प्रतिपाद्य प्रकट करने के लिए अपने ही असमंजस को एक दिशा देना चाहता है। यहाँ गाँधी की अहिंसा-साधना को 'अग्नि-परीक्षा' या फिर कहें कि 'यक्ष-परीक्षा' में खड़ा किया गया है। यह दिखाया गया है कि अपने अंतिम दिनों में किस तरह गाँधी अहिंसा का सत्य सिद्ध करने के लिए सन्नद्ध हो गये थे। उन्हें यह तो विश्वास हो ही गया था कि जिन्हें वे अपना और हिंदुस्तान का क़ायद-

ए-आज़म समझ रहे थे, उनके लिए अब उनके स्वधर्म को ख़ब्त समझ कर उसे तनिक भी बढ़ावा देना उचित नहीं रह गया था। वे यह भी देख रहे थे कि किस प्रकार स्वाधीनता आंदोलन की परिणति हिंदुस्तान के दो टुकड़ों में बँटने की भारी मुसीबत की दहलीज पर पहुँच चुकी थी। इतना ही नहीं बँटवारे से पूर्व और बँटवारे के बाद भी एक ही देश के दो धड़ों में धधकती हुई हिंसा की ज्वाला में गाँधी अपनी अहिंसा को झुलसते हुए देख रहे थे। बडा मार्मिक है इन संदर्भों में 15 जून, 1947 का उनके मौन दिवस पर पढ़ा गया लिखित संदेश, 'मैं तो दिवालिया हो गया हूँ। परंतु अहिंसा का दिवाला कभी नहीं निकल सकता। ...मेरे जैसे लाखों आदमी भले इस सत्य को इस जीवन में सिद्ध न कर पाएँ, यह उनकी कमजोरी तथा नाकामयाबी होगी, न कि अहिंसा की।'

गाँधी भी ऐसा मान रहे थे कि सत्य और अहिंसा को सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय बनाने का उनका प्रयोग असफल हो गया है। उन्हें तो इस बात का भी बोध हो गया था कि जिस अहिंसा को वे अपना धर्म समझ रहे थे वह कांग्रेस के लिए एक 'नीति' भर थी। नीति उसी वक़्त तक धर्म रह सकती है जब तक कि उसे चलाया जाए। कांग्रेस को पूरा अधिकार है कि जिस वक़्त ज़रूरत न रहे उसी वक़्त नीति को बदल दे। धर्म की बात और होती है। वह कभी बदल नहीं सकता।

इन परिस्थितियों को परिप्रेक्ष्य बना कर सुधीर चंद्र ने अपनी किताब के इस अध्याय में गाँधी के जीवन का एक नया अध्याय दिखाने का प्रयास किया है। अब गाँधी के लिए ग्राम स्वराज की लोकतांत्रिक अभियांत्रिकी के मुद्दे पर नेहरू को अपनी बात समझा ले जाना और उस पर अमल करने के लिए उन्हें तैयार कर लेना उनकी प्राथमिकताओं में नहीं था। प्राथमिकता बन गयी हिंस्र उन्माद शांत करने के लिए सत्य और अहिंसा के प्रयोग की अंतिम बाज़ी लगाना और आत्मोत्सर्ग पर्यंत उसकी रक्षा करना। लेखक ने गाँधी के जीवन के इस पहलू को विभिन्न घटना चक्रों के मध्य जिस संजीदगी से विश्लेषित किया उससे दो बातें उल्लेखनीय रूप में सामने आती हैं। पहला तो यह कि इन दिनों में गाँधी अपनी अहिंसा के सत्य की लाज रखने के लिए सबके बीच रह कर भी एक निजी लड़ाई लड़ रहे थे। दूसरा यह कि वे अपनी लड़ाई की जीत इस बात में देखना चाहते थे कि हिंदुस्तान-पाकिस्तान के भौगोलिक बँटवारे के बावजूद भी हिंदू-मुसलमान के नाम पर अवाम के दिलों का बँटवारा न होने पाए। जाहिर है कि आसन्न परिस्थिति में दिलों के बँटवारे को रोक कर ही अहिंसा की प्रतिष्ठा की जा सकती थी। ये दोनों ही उद्देश्य ध्यान में रखते हुए लेखक ने उस दौरान गाँधी द्वारा किये गये आमरण अनशनों के औचित्य और प्रभावमत्ता का विश्लेषण बड़े विस्तार और समारोह के साथ किया है। इसमें पहला अनशन गाँधी ने 1947 में 1 सितम्बर को कलकत्ता में नोआख़ाली जाने से ठीक पहले किया था। इस अनशन के द्वारा अहिंसा की जीत इस रूप में हुई थी कि 78 घंटे चले इस उपवास को सुहरावर्दी के हाथों मौसमी का रस पी कर तोड़ते हुए गाँधी ने कलकत्ते के मुसलमानों से नोआख़ाली में हिंदू-सुरक्षा की जमानत ले ली थी। दूसरा अनशन 13 जनवरी, 1948 का है। यह दिल्ली में किया गया था। गाँधी कलकत्ता से चले थे पंजाब के लिए लेकिन दिल्ली की हालत ऐसी बिगड़ी कि बीच में ही उन्हें दिल्ली रुकना पड़ा। दिल्ली में भी गाँधी के भगीरथ प्रयास का फ़ौरन असर हुआ। भले ही अनशन कलकत्ते की तुलना में दो दिन अधिक चला हो, लेकिन दिल्ली में शांति बहाल हो गयी। गाँधी ने इसके लिए सात शर्तें रखी थीं। उन शर्तों का लिखित आश्वासन देने में भी सर्वदलीय सदस्यों को कोई दिक़्क़त नहीं हुई।

इस दूसरे अनशन की तफ़सील करते हुए सुधीर चंद्र ने अपने पक्ष में और अपने प्रतिपाद्य की

ज़मीन तैयार करने के लिए एक अच्छी टिप्पणी की है : '... पर गाँधी की नज़र से देखें तो वह लोगों का अपने साथ और गाँधी के साथ धोखा था। अनिवार्यत: समस्त फ़ौरी कल्याणकारिता के बावजूद अश्रेयस्कर था। दिलों में घर किये बैठा शैतान दुबक-भर गया था, परिस्थितियों के दबाव में, थोड़ी देर के लिए। मौक़ा पाते ही दिलों को फिर दबोच लेने के लिए तत्पर।' (पृ. 60) यद्यपि टिप्पणी उन्होंने राजेंद्र प्रसाद के नेतृत्व में सर्वदलीय समिति पर की है लेकिन इसका विस्तार चाहें तो वे इस अनशन को तोड़ने के लिए पाकिस्तान के घड़ियाली आँसू बहाने तक भी कर सकते हैं, क्योंकि तब तक भारत की सरकार पाकिस्तान को 55 करोड़ अभी न लौटाने का अपना पूर्व फ़ैसला बदल चुकी थी। यह फ़ैसला भी गाँधी के इस अनशन के दबाव में ही हुआ था।

इस तरह कहा जा सकता है कि गाँधी ने अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर अहिंसा की लाज निजी तौर पर तो बचा ली। परंतु उनके संतोष के लिए यह काफ़ी नहीं था। वे अपनी लोकप्रियता और भारतीय जनमानस में अपने मान-सम्मान के आधार पर अहिंसा की जीत नहीं चाहते थे। इस बदली हुई परिस्थिति में भी वे अहिंसा, जिसे आनृशंस्य कहें या निर्वेरता, की चैतसिक भूमि पर पहले हिंदुस्तान में खड़ा करना चाहते थे और बाद में पाकिस्तान तक इसके विस्तार की योजना एवं दृढ़ इच्छा-शक्ति सँजोये हुए थे। परंतु यह सब गाँधी की ख़ब्तें थीं या फिर चेतना की उच्च भूमि पर किया गया सत्य का साक्षात्कार। इसका निर्णय कैसे किया जाय! सुधीर चंद्र कहेंगे कि यह प्रश्न हमें गाँधी से न पूछ कर स्वयं से पूछना चाहिए। लेखक ने पुछवाया भी है क्योंकि यह पूरी किताब गाँधी के 'मैं' में अहिंसा के 'हम' की तलाश करने के लिए ही लिखी गयी है।

अंत में यह रचना गाँधी को एक असम्भव सम्भावना बताते हुए समाप्त होती है। क्या कहना चाहते हैं सुधीर चंद्र गाँधी को असम्भव सम्भावना कहते हुए? उन्होंने दिखाया है कि एक समय ऐसा था जब गाँधी अपने पार्थिव अंत की कातर कामना करने लगे थे। फिर 125 वर्ष जीने की और क्या हुआ दिल्ली के अनशन के बाद कि उनमें 133 वर्ष से एक वर्ष भी कम नहीं जीने की अदम्य जिजीविषा उभर आयी। जाहिर है कि यह सब कुछ अहिंसा के सत्य की निजी जीत का कमाल था। इस जीत ने उन्हें फिर से संघर्ष करने का, पीछे छोड़े गये मुद्दों को फिर से प्राथमिकता में ले कर एक नयी लड़ाई शुरू करने का साहस दिया था। वे कहा भी करते थे कि लड़ाई को वे अपने नसीब में लिखा कर आये हैं। यह बात अलग है कि गाँधी तो हमारे लिए ही लड़ते रहे, लेकिन हम उनकी लड़ाई में शरीक़ हुए या नहीं। यदि हम शरीक़ नहीं हुए तो गाँधी की जीत हुई और हार गये हम। हमारी हार ही सम्भवत: गाँधी को असम्भव सम्भावना में रूपांतरित कर देती है। वस्तुत: इसी अर्थ में यह छोटी-सी किताब अपने आप में कभी ख़त्म न होने को तैयार एक बड़ी किताब है जो गाँधी के बहाने अपने को भी देखने का अवसर प्रदान करती है।

परंतु इस किताब के मूल प्रतिपाद्य से सहमति जताते हुए एक दूसरी तस्वीर भी खींची जा सकती है। ऐसी तस्वीर जो गाँधी के दु:ख को सांत्वना दे सके और उन्हें यह भरोसा दे सके कि सत्य और अहिंसा की लड़ाई में हम उनके साथ रहे हैं। गाँधी को इस अर्थ में सम्भावना कहना कि अहिंसा की उनकी निजी-साधना सफल रही और इस अर्थ में उन्हें असम्भव कहना कि वे अहिंसा को सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय अर्थात् समष्टिधर्म नहीं बना सके, एक अर्द्ध सत्य है। सच्चाई यह है कि हिंदुस्तान के स्वराज की लड़ाई में गाँधी का यह प्रयोग विभाजन से पूर्व और विभाजन के पश्चात भी पूरे तौर से सफल रहा है। यदि इसकी विफलता देखना आवश्यक हो तो पहले मन में और बाद में धरती पर बने पाकिस्तान के परिप्रेक्ष्य में ही महानायक के इस महान् प्रयोग की विफलता देखी जा सकती है। यह बात सही है कि सत्य और अहिंसा सार्वभौम मूल्य हैं और मानव मात्र के लिए श्रेय हैं। गाँधी भी ऐसा ही समझते थे। लेकिन किसी भी मूल्य के अनुप्रयोग की एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि होती है। भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में सत्य और अहिंसा के न्यूनाधिक रूप में चरितार्थ होने का जितना लम्बा, उतना

ही परीक्षित इतिहास रहा है। यहाँ तो अहिंसा की क्या बात, आनृशंस्य को परम धर्म का दर्जा दिया गया है। आनृशंस्य क्रियात्मक अहिंसा की पूर्व-भूमि है जहाँ चेतना में ही द्रोह का अभाव होता है और तब व्यवहार में हिंसा का प्रतिपक्ष 'मैत्री और करुणा' आचरण में उतरते हैं। भारत का यह सांस्कृतिक चरित्र विभाजन के पूर्व ही नहीं विभाजनोपरांत भी अपनी अहमियत बनाये रखने में कामयाब रहा है। कुछ एक प्रतिक्रियात्मक घटनाओं की तुला पर भारत के सांस्कृतिक चरित्र को तौलना और अपने को कोसना ठीक नहीं है। यहाँ हम अपनी बात और स्पष्ट करने के लिए एक अतिविवादास्पद और उतना ही संवेदनशील एक ऐतिहासिक निर्णय को उदाहरण बनाना चाहेंगे। अवधेय है कि 1947 में अत्यंत प्रतिरोध के बावजूद देश का दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन हुआ। इस विभाजन की परिस्थिति और उसके लिए जिम्मेदार मानस इतना कठोर था कि गाँधी को भी इसके विरोध में आमरण अनशन करने की हिम्मत नहीं हुई। यह उचित भी था क्योंकि अनशन की फलश्रुति हृदय रूपांतरण में है न कि आत्महत्या में। इस विभाजन ने जहाँ एक इसलामिक राष्ट्र की संरचना को तो सम्भव बनाया लेकिन दूसरी ओर बतौर प्रतिक्रिया हिंदू राष्ट्र की अभिकल्पना को जन्म नहीं दिया। जबकि पाकिस्तान बनने के बाद शेष भारत को हिंदू राष्ट्र बनने का नैतिक अधिकार अपने आप प्राप्त हो गया था। परंतु शेष भारत ने अपनी सांस्कृतिक आत्म-प्रतिमा को धार्मिक-राजनीतिक इसलाम की प्रतिक्रिया में परिभाषित करना उचित नहीं समझा। यह यूँ ही नहीं हुआ। दरअसल यह उस संस्कृति और उसके मूल्यबोध का कमाल था जो युगों-युगों से इस महादेश की चेतना का संस्कार करती आ रही थी। क्या यह गाँधी की बहुत बड़ी सफलता नहीं जिस पर स्वयं उन्हें और हम सब को आज भी गर्व करना चाहिए। यह सवाल दीगर है कि वजूद में आये पाकिस्तान की इसलामिक सांस्कृतिक-धार्मिक पृष्ठभूमि में सत्य, अहिंसा, प्रेम और करुणा के लिए कितनी जगह रही। क्या यह सत्य नहीं कि जाने-अनजाने में यही सफलता गाँधी को हार मानने से अंततः बचा ही लिया और उन्होंने फिर से सत्य और अहिंसा की पहल एक नये सिरे से की। वह पहल थी कि भूगोल का बँटवारा भले हो गया हो लेकिन दिलों का बँटवारा नहीं होना चाहिए। यदि दिलों के बँटवारे को रोका जा सके तो भूगोल पर बँटवारे की खिंची लकीर को कभी भी मिटाया जा सकेगा। सुधीर चंद्र चाहें तो याद कर सकते हैं कि गाँधी ने इसकी शुरुआत भी बचे-खुचे हिंदुस्तान से ही की, पाकिस्तान से पाकिस्तान जाकर नहीं। वस्तुतः कोई भी समाज और संस्कृति जैसे अपनी महत्तम उपलब्धियों का आकलन अपनी सांस्कृतिक आत्म-प्रतिमा की अनुरूपता में करता है वैसे ही ऐतिहासिक निर्णयों के संदर्भ में वह अपने समष्टि-धर्म का ही परिचय देता है। भारत और पाकिस्तान दोनों ने ऐसा ही किया है। अब सुधीर चंद्र ही निर्णय लें कि भारत और पाकिस्तान में कौन गाँधी के साथ खड़ा रहा। यह भी कि जो गाँधी के साथ खड़ा नहीं रहेगा, क्या वह अपने वजूद को बनाए रखने के लिए अपने को योग्यतम भी सिद्ध कर पाएगा या नहीं।